UGC Approved - 45554 **Sangeet Galaxy**
Vol. 7, Issue. 1 (January 2018) pp. 75-80 **ISSN: 2319-9695**

भारतीय शास्त्रीय संगीत में वाद्य

चार्वी वर्मा
शोध छात्रा, वाद्य विभाग
संगीत एवं मंचकला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
Email: charvi.verma26@gmail.com

भारतीय संगीत के विकास में सदैव ही वाद्यों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। ''वाद्य'' शब्द "वद्" धातु से लिया गया है, जिसका अर्थ है 'बोलना'। वादन का शाब्दिक अर्थ है, वाद्य से ध्वनि उत्पन्न करना। अतः वह उपकरण जिससे ध्वनि उत्पन्न हो ''वाद्य'' कहलाता है। भारत में सांगीतिक वाद्यों की चर्चा विभिन्न प्राचीन व आधुनिक ग्रंथों में की गयी है। पौराणिक कथाओं, मूर्तियों, नक्काशी, पत्थर की दीवारों पर की गयी चित्रकारी एवं विभिन्न हिन्दू, बौद्ध व जैन मन्दिरों में वाद्यों के अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं।

गीत, वाद्य और नृत्य के द्वारा सामाज को आनन्दित करने की परंपरा आदि–काल से रही है। मन की अवस्थाओं का सूक्ष्म से सूक्ष्म चित्रण गीत, वाद्य, नृत्य अर्थात संगीत के द्वारा आसानी से किया जा सकता है। गीत से प्राप्त होने वाले रस में वाद्य और नृत्य सहायक होते हैं। मनुष्य का शरीर स्वयं एक प्रकार की वीणा है। वैदिक ग्रंथों में इसे "दैवीय वीणा" तथा मानव द्वारा निर्मित वीणा को "मानुषी वीणा" कहा गया है। गीत की उत्पत्ति के लिए शरीर ही कारण है, इसीलिए इसे "गात्र–वीणा" भी कहा गया है।

गीतानुरंजन के लिए वाद्य–वादन की परंपरा प्राचीन काल से ही रही है। प्राचीन काल में मन के विशिष्ट भावों को अभिव्यक्त करने के लिए विभिन्न वाद्यों का प्रयोग किया जाता था। नाट्य में वाद्य–संयोजन और वाद्य–वादन का प्रमुख स्थान रहा है। ऐसे वाद्य–वृंद अथवा आतोद्य–विन्यास के लिए भरत ने 'कुतप' संज्ञा दी है। एकाकी वादन के साथ वृंद–वादन का प्रचार भी भारत में सदैव से रहा है।

भारतीय संगीत के तीन अंग गायन, वादन और नृत्य स्वीकार किए गए हैं। भारतीय समाज और संस्कृति धर्म–प्रधान है। हम भारतीय संस्कृति के किसी भी पक्ष का अध्ययन करें, तो उसे धर्म से अनुप्राणित पाएँगे। इसी कारण गायन के अतिरिक्त वादन और नृत्य से भी संगीत–शास्त्रियों की यह धार्मिक आस्था जुड़ी हुई है। यही कारण है कि प्राचीन ग्रंथों में हमें वाद्यों की उत्पत्ति का वर्णन किसी–न–किसी देवी–देवता से सम्बद्ध प्राप्त होता है। वाद्यों के पृथ्वी पर प्रादुर्भाव के संबंध में एक स्रोत के अनुसार पूर्व–काल में पृथ्वी पर दस प्रकार के कल्पवृक्ष थे। इनमें से एक का नाम "तूर्यांग" था। इसी कल्पवृक्ष ने मनुष्यों को चार प्रकार के वाद्य प्रदान किए।

इसके अतिरिक्त कल्लिनाथ के मतानुसार दक्ष–यज्ञ–विध्वंस से शिव को जो क्रोध उत्पन्न हुआ, उसको शांत करने के लिए स्वाति और नारद आदि (ऋषियों) ने वाद्यों का निर्माण किया।

वाद्यं दक्षाध्वरध्वंसोद्वेगत्यागाय शंभुना।
चक्रे कौतुकतो नंदि स्वाति तुंबुरु नारदैः।।''[1]

आजकल प्रचलित विचारधारा के अनुसार मानव ने आदिकाल से ही वाद्यों के निर्माण की ओर कदम बढ़ा दिया था। उस समय का मानव आज के मानव की अपेक्षा प्रकृति के अधिक निकट था। वाद्यों के निर्माण में कदाचित् विभिन्न प्राकृतिक ध्वनियाँ सबसे अधिक प्रेरक सिद्ध हुई होंगी।

अवनद्ध वाद्य अधिकांश रूप से तालगत होते हैं। प्राचीन मानव का नृत्य, भाव की अपेक्षा लयप्रधान अधिक था, जैसा कि आज भी लोक–नृत्यों में देखा जा सकता है। अनुमानतः नृत्य के साथ ही ताल देने के लिए और काल–मापन के लिए ही इन चर्मानद्ध वाद्यों का सर्वप्रथम निर्माण हुआ होगा। इनके निर्माण की प्रेरणा मनुष्य को उन ध्वनियों से प्राप्त हुई होगी, जो कि वह नृत्य करते समय अपने शरीर के विशेष भागों को हाथ से पीटकर उत्पन्न किया करता था।

नृत्य के ही साधन के रूप में घुँघरू का भी आविष्कार हुआ होगा, जिसको कि घनवाद्यों के अन्तर्गत स्थान दिया गया। घुँघरू से मिलते–जुलते वाद्य अन्य देशों में भी प्रचलित हैं, जिन्हें नर्तक–नर्तकियाँ अपने शरीर के विभिन्न अंगों तथा अपने वस्त्रों और वाद्यों में बाँध लेते हैं। घुँघरू का जन्म संभवतः किसी प्रकार की सूखी हुई फलियों को हिलाने पर उनके भीतर पड़े दानों के बजने से हुआ होगा।

अवनद्ध और घनवाद्यों के अतिरिक्त सुषिर और तत्श्रेणी के वाद्य भी इसी प्रकार प्राकृतिक ध्वनियों के अनुकरण की चेष्टा से ही जन्म ले सके हैं। यदि हम तेज वायु चलते समय किसी ऐसे स्थान पर हों, जहाँ बाँस हो तो हम वायु और बाँसों के संयोग से उत्पन्न होने वाली सीटी की सी ध्वनि सुन सकते हैं। प्राचीन मानव के लिए यह एक सुखद और कौतुहलप्रद अनुभव रहा होगा। इस प्रकार विभिन्न प्रयत्नों से सुषिर वाद्यों की उत्पत्ति हुई होगी।

तत्श्रेणी के वाद्य भी अत्यंत प्राचीन हैं। प्राचीन मनुष्य आखेटक का जीवन व्यतीत करता था, उसके शस्त्रों में धनुष भी होता था। संभव है कि बाण छोड़ते समय धनुष की डोरी में कंपन होने से जो ध्वनि उत्पन्न हुई होगी उसको उसने अपने संगीत में सम्मिलित करना चाहा होगा और यह घटना तंत्री वाद्यों के उत्पत्ति का कारण बनी होगी।

''वाद्य'' शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'वादनीय' या 'बजाने योग्य यंत्र–विशेष'। 'वदतीति वाद्यम्' जो बोलता है, वही वस्तुतः वाद्य है।''[2] हमारे प्राचीन संस्कृत–साहित्य में वाद्य के लिए तीन पर्याय मिलते हैं–1. वाद्य, 2. वादित्र और 3. आतोद्य। "संगीत शास्त्र में वाद्य शब्द का प्रयोग तीन संदर्भों में उपलब्ध होता है– (1) वाद्य शरीर, (2) अर्थ, अर्थात् वाद्य पर जो चीज़ बज रही है तथा (3) वाद्य प्रविधि अर्थात् वादनविधा के लिए भी इसका प्रयोग किया गया है।"[3]

वाद्य मानव की सृजनशक्ति को नये आयाम प्रदान करते हैं। संगीत के लक्षण 'गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते' में गीत के बाद वाद्य को विशेष कारण से स्थान दिया गया है। यद्यपि संगीत की

[1] कैलाश पंकज श्रीवास्तव, संगीत वाद्य वादन अंक, हाथरस, पृ० 7
[2] डॉ० विश्वनाथ शुक्ल, संगीत वाद्य वादन अंक, हाथरस, पृ० 21
[3] विमला मूसलगाँवकर, भारतीय संगीत का दर्शनपरक अनुशीलन, पृ० 348

अभिव्यक्ति मूलतः मनुष्य कण्ठ से होती है और वाद्य उसके अनुगामी, अनुकरणात्मक अथवा सहयोगी के रूप में कार्य करता है, किन्तु गीत अर्थात गायन अकेला, स्वतंत्र रूप में पूरी तरह सम्पन्न नहीं होता। उसके संपूर्ण उत्कर्ष के लिए वादन आवश्यक है।

प्राचीन भारत में वाद्य संगीत अपने विकसित स्वरूप को प्राप्त हो चुका था। विभिन्न प्रकार के वाद्यों का वादन होता था एवं तंत्री, सुषिर और ताल वाद्यों की भरमार थी जिनका भिन्न स्वरूप, नाम, निर्माण प्रक्रिया, तकनीक व ध्वनियाँ थीं। संगीत का मूल नाद में निहित है। ''नाद के दो भेद हैं–आहत व अनाहत। आहत नाद अपने पाँच रूपों में जिन्हें संगीतात्मक ध्वनि कहते हैं, प्रस्फुटित होता है–नखज, वायुज, चर्मज, लोहज तथा शरीरज। वीणा आदि वाद्य नखज हैं, वंशी आदि वायुज हैं, मृदंग आदि चर्मज, मंजीरा आदि लोहज तथा कण्ठ ध्वनि शरीरज हैं। इन पाँच प्रकार की ध्वनियों को उत्पन्न करने वाले वाद्यों को 'पंचमहावाद्यानि' कहते हैं।''[4] संगीत मकरन्द में पाँच प्रकार की ध्वनियों का उल्लेख है– नख, वायु, चर्म, लौह एवं प्राकृत अथवा दैवीय।

''शाड.र्गदेव ने वाद्यों के तीन प्रयोजन बताये हैं–
1. सांगीतिक रचना के स्वर पक्ष को उत्पन्न करना,
2. गीत को और अधिक रंजक बनाना, समृद्ध बनाना, उसमें उत्कर्ष लाना, आनन्ददायक बनाना और
3. गीत के काल का मापन करना।''[5]

साथ ही सामान्य रूप से सभी वाद्यों के दो प्रयोजन और भी कहे हैं–रंगस्थल पर गायक–नर्तक आदि को विश्रान्ति देना। दूसरा प्रयोजन यह है कि गान और नृत्त में कोई भूल होने या कमी आने पर उसे ढकना और उसे उभरने ना देना।

हमारे देश में वाद्यों की विविधता स्वाभाविक है जिसका श्रेय हमारी संस्कृति को जाता है। इनकी संख्या इतनी विस्तृत है कि विद्वानों को इनका वर्गीकरण करने की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। संसार में भारत ही प्रथम देश है जहाँ सहस्रों वर्ष पूर्व संगीत वाद्यों का विधिवत वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। वैदिककाल में वाद्यों का वर्गीकरण नहीं मिलता, किन्तु रामायण तथा महाभारत में 'वादित्र' के अन्तर्गत ही तत, अवनद्ध, घन तथा सुषिर वाद्यों का अन्तर्भाव है।

"संगीत रत्नाकर में वाद्य–निरूपण का प्रयोजन तथा चतुर्विध वाद्य–वर्गीकरण इस प्रकार बताया गया है–

गीतं चतुर्विधाद् वाद्याज्जायते चोपरज्यते।
मीयते च ततोऽस्माभिर्वाद्यमत्र निगद्यते।।3।।

अर्थात्, चार प्रकार के वाद्य से गीत उत्पन्न होता है और उपरंजित होता है तथा मापा जाता है। इसलिए इसे वाद्य कहा जाता है।

तत् ततं सुषिरं चावनद्धं घनमिति स्मृतम्।
चतुर्धा तत्र पूर्वाभ्यां श्रुत्यादिद्वारतो भवेत्।।4।।

[4] डॉ० लालमणि मिश्रा, भारतीय संगीत वाद्य, पृ० 41
[5] सुभद्रा चौधरी, संगीतरत्नाकर, तृतीय खण्ड, पृ० 12

गीतं ततोऽवनद्धेन रज्यते मीयते घनात्।

अर्थात्, तत, सुषिर, अवनद्ध तथा घन ये वाद्यों के चार प्रकार माने गये हैं। उनमें से पहले दो वर्ग के वाद्यों से श्रुति आदि के द्वारा गीत उत्पन्न होता है। उसके बाद अवनद्ध के द्वारा रंजित होता है तथा घन से मापा जाता है।

इसी प्रकार चतुर्विध वाद्यों के सामान्य लक्षण इस प्रकार बताए गए हैं–

वाद्यतंत्री ततं वाद्यं सुषिरं सुषिरं मतम्।।5।।

चर्मावनद्धवदनंवनद्धं तु वाद्यते
घनो मूर्तिः साभिघाताद् वाद्यते यत्र तद् घनम्।।6।।

अर्थात्, वादन योग्य तंत्री वाला तत् वाद्य होता है। छिद्र वाला सुषिर वाद्य माना गया है, जो वाद्य चमड़े से ढके मुँह द्वारा ध्वनित होता है अवनद्ध कहलाता है तथा जो वाद्य परस्पर टकराकर बजाये जाते हैं घन वाद्य कहलाते हैं।''[6] वाद्य संगीत, कण्ठ संगीत और नृत्य के पूर्व, मध्य और अन्त तीनों में स्थित है, जो इन दोनों कलाओं को सहयोग देता है। इसके साथ ही वाद्य–संगीत की अपनी स्वतंत्र मर्यादा भी है। वाद्य संगीत गीत और नृत्य के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना कि किसी लेख के लिए अलंकार। यह एक सनातन सत्य है कि वातावरण की दृष्टि से जितनी सामर्थ्य वाद्य संगीत में विद्यमान है, उतनी गायन अथवा नृत्य–कला में नहीं है।
"भारतीय संगीत में वाद्यों को–तत्, अवनद्ध, सुषिर तथा घन–इन चार वर्गों में विभाजित किया गया है। इन चारों प्रकार के वाद्यों के सम्बन्ध में कहा गया हैः–

ततं वाद्यंतु देवानां गंधर्वाणां च शौषिरम्।
आनद्धं राक्षसानांतु किन्नराणां घनं विदुः।
निजावतारे गोविंदः सर्वमेवानयत क्षितौ।

अर्थात्, तत वाद्य देवताओं से, सुषिर गंधर्वों से, आनद्ध राक्षसों से तथा घन किन्नरों से संबंधित थे। जब श्रीकृष्ण ने अवतार लिया, तब वे इन चारों प्रकार के वाद्यों को पृथ्वी पे लाए।"[7]

''वाद्यों के चार वर्गों का उल्लेख करनेवाला यह प्रसिद्ध श्लोक है–

ततं वीणादिकं वाद्यं आनद्धं मुरजादिकम्।
वंशादिकं तु सुषिरं कांस्यतालादिकं घनम्।।
(अमरकोष, प्र॰ कांड, नाट्यवर्ग 4)

अर्थात् वीणादि वाद्यों को 'तत वाद्य', मुरज आदि को 'आनद्ध वाद्य', वंश वेणु आदि को 'सुषिर वाद्य' और कांस्यताल आदि को 'घन वाद्य' कहा जाता है।''[8]

[6] सुभद्रा चौधरी, संगीतरत्नाकर, तृतीय खण्ड, पृ० 248–250
[7] कैलाश पंकज श्रीवास्तव, संगीत वाद्य वादन अंक, हाथरस, पृ० 7

''महर्षि भरत और दत्तिल ने वाद्यों के चार वर्ग माने हैं–तत, अवनद्ध, घन तथा सुषिर। नारद ने तीन ही वर्ग माने हैं–अवनद्ध, तत एवं घन। कुछ विद्वानों ने कण्ठ ध्वनि को भी वाद्य ध्वनि के अन्तर्गत सम्मिलित किया है तथा वाद्यों के पाँच वर्ग माने हैं।''[9]

महर्षि भरत द्वारा प्रतिपादित चतुर्विध वाद्य वर्गीकरण को ही अधिकांश विद्वानों ने स्वीकृत किया है। वाद्यों के वर्गीकरण के दो हज़ार वर्षों के इतिहास में केवल दो परिवर्तन विशेष रूप से परिलक्षित होते हैं। इनमें से प्रथम है वितत शब्द जो अवनद्ध के स्थान पर प्रयुक्त हुआ तथा दूसरा है ततानद्ध नाम का नया वर्गीकरण। 'संगीत–चूड़ामणि' में सर्वप्रथम अवनद्ध के स्थान पर वितत शब्द का प्रयोग मिलता है।

''पाश्चात्य संस्कृति में सर्वप्रथम 1914 ई॰ में Hornbostel-Sachs ने ध्वनि के आधार पर वाद्यों को Idiophone, Aerophone, Membraphone एवं Chordophone वर्गों में वर्गीकृत किया जिसका अनुकरण आज भी वहाँ किया जाता है।''[10] भारतीय संस्कृति में महर्षि भरत ने समस्त वाद्यों के लिए "आतोद्य" संज्ञा का प्रयोग किया है। आपने समस्त वाद्यों को चार वर्गों में वर्गीकृत किया है– तत्, अवनद्ध, घन व सुषिर। उनके अनुसार तत् व अवनद्ध वाद्य प्रमुख वाद्य हैं क्योंकि उनमें स्वर व ताल को बरतने की पर्याप्त क्षमता है। भरत द्वारा प्रदत्त यह वर्गीकरण आज भी भारत में अनुकृत है।

वाद्यों का प्रयोग मुख्यतः पाँच रूपों में किया जाता है–

- आधार स्वर प्रदान करने के लिए, इसमें वाद्य द्वारा निरन्तर आधार स्वर को छेड़ा जाता है।
- संगति के लिए–गायन और नृत्य की विभिन्न विधाओं के साथ स्वर तथा अवनद्ध वाद्यों द्वारा संगति होती है।
- एकल वादन के लिए–इसमें वादक अपनी कला का प्रदर्शन स्वतन्त्र रूप से करता है, परन्तु स्वरवाद्य के सहायक अवनद्ध वाद्य रहते हैं तथा अवनद्ध वाद्य के सहायक स्वरवाद्य।
- वाद्य वृंद–इसमें विभिन्न प्रकार के वाद्यों का सामूहिक वादन होता है।
- पार्श्व संगीत–नाटक, एकांकी तथा विशेषकर चलचित्रों में, संवाद के साथ और वातावरण के अनुकूल विभिन्न रसोत्पत्ति के लिए विभिन्न वाद्यों का प्रयोग होता है।''[11]

यद्यपि यह देखा जाता रहा है कि संगीत में प्रत्येक स्थल पर प्रायः गायन को ही प्रधानता दी जाती है, किंतु सांगीतिक ग्रंथों का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि सांगीतिक व्यवस्था, उसकी सुरक्षा व उसके विकास में वाद्यों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।
कण्ठ संगीत में स्वर एवं लयत्व के साथ–साथ काव्य का संयोग कम या अधिक मात्रा में होता है, नृत्य संगीत में लय तत्व के साथ अंग–संचालन के रूप में नाट्य का योग होता है, किंतु वाद्य संगीत में केवल स्वर तथा लयत्व ही होते हैं। वाद्यकला किसी अन्य कला का आश्रय नहीं लेती। वाद्य–संगीत में मूल तत्व स्वर तथा लय के द्वारा बिना किसी अन्य कला की सहायता से श्रोताओं को घण्टों तक मन्त्रमुग्ध किये रखने

[8] डॉ॰ विश्वनाथ शुक्ल, संगीत वाद्य वादन अंक, हाथरस, पृ॰ 22
[9] डॉ॰ लालमणि मिश्रा, भारतीय संगीत वाद्य, पृ॰ 41
[10] डॉ॰ सुनीरा कासलीवाल, Classical Musical Instruments, पृ॰ 5
[11] डॉ॰ अरुण मिश्र, भारतीय कंठ संगीत और वाद्य संगीत (गायन–वादन सुमेल), पृ॰ 54

की शक्ति होती है। संगीत के द्वारा उत्कृष्ट अभिव्यंजना का जितना अधिक विस्तार वाद्य–संगीत में सम्भव है उतना गान एवं नृत्य में नहीं है। नृत्य और कण्ठ–संगीत के अतिरिक्त नाट्यकला के लिए भी वाद्य संगीत का होना अत्यन्त आवश्यक है। नाटक को सजीव तथा शुभ फलदायक बनाने के लिए ही महर्षि भरत ने नाटक में वाद्य का विधान आवश्यक माना है।

यदि यह कहा जाए कि वाद्य न होते तो शास्त्रीय संगीत की कोई परम्परा न होती और यदि होती भी तो उसकी विवेचना का कोई उपाय न होता तो कोई अतिश्योक्ति न होगी। स्वरोत्पत्ति, स्वर–स्थान का स्थिरिकरण, स्वरान्तरालों की नाप–जोख आदि कार्य बिना वाद्यों के पूरे हो ही नहीं सकते। प्राचीनकाल से अब तक, चाहे भारतीय परम्परावादी हो अथवा आधुनिक वैज्ञानिक, स्वरों के विश्लेषण के लिए प्रत्येक को किसी न किसी वाद्य का ही सहारा लेना ही पड़ा है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि किसी भी तरह के संगीत की कल्पना भी बिना वाद्य के नहीं की जा सकती।

संदर्भ–ग्रन्थ सूची–

- सुभद्रा चौधरी, संगीतरत्नाकर, तृतीय खण्ड, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली 2006।
- लालमणि मिश्रा, भारतीय संगीत वाद्य, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2005।
- विमला मूसलगाँवकर, भारतीय संगीत–शास्त्र का दर्शनपरक अनुशीलन, संगीत रिसर्च अकादमी, कलकत्ता, 1995।
- संगीत वाद्य–वादन अंक, संगीत कार्यालय, हाथरस, 1975।
- अंजना भार्गव, भारतीय संगीत शास्त्रों में वाद्यों का चिन्तन, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2009।
- बी० चैतन्य देव, Musical Instruments of India (Their History and Development), मुन्शीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2000।
- अरुण मिश्रा, भारतीय कंठ संगीत और वाद्य संगीत (गायन–वादन सुमेल), कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2002।
- Sunira Kasliwal, Classical Musical Instruments, Rupa. Co, New Delhi, 2006.